



श्रीपरमानन्द जैन, शास्त्री

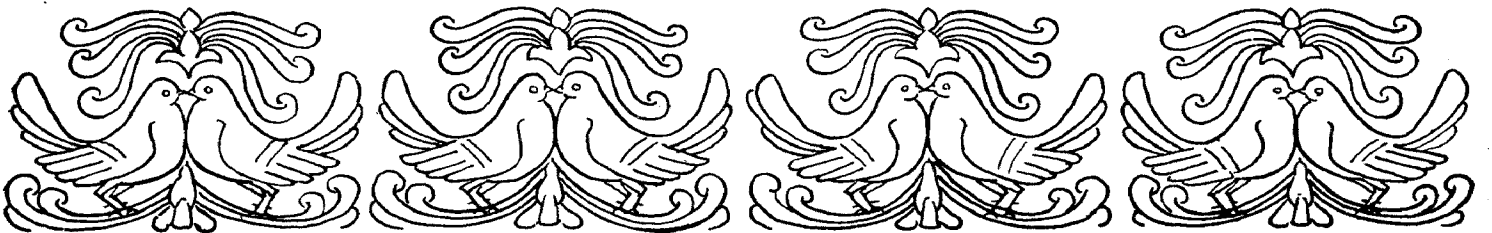
मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व

श्रमण संस्कृति का प्रतीक जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आ रहा है, वह बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन और स्वतंत्र धर्म है। वेदों और भागवत आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध जैन धर्म सम्बन्धी विवरणों के सम्यक् परिशीलन से विद्वानों ने उक्त कथन का समर्थन किया है। प्राचीन काल में भारत में दो संस्कृतियों के अस्तित्व का पता चलता है, श्रमणसंस्कृति और वैदिक संस्कृति। मोहनजोदारो में समुपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। वैदिक युग में ब्राह्मणों और श्रमणों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने ही किया था। इस युग में जैन धर्म के आदिप्रवर्तक आदि ब्रह्मा आदिनाथ थे, जो नाभिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनकी स्तुति वेदों में की गई है। इन्हीं आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है। जैनधर्म के दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति और पुरातत्त्व आदि का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

इतिहास में पुरातत्त्व का कितना महत्त्व है, यह पुरातत्त्वज्ञ भलीभांति जानते हैं। भारतीय इतिहास में मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्त्व भी कम महत्त्व का नहीं है। वहाँ पर अवस्थित जैन स्थापत्य, कलात्मक अलंकरण, मन्दिर, मूर्तियाँ, शिलालेख, ताम्रपत्र और प्रशस्तियों आदि में जैनियों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का अंकन मिलता है। यद्यपि भारत में हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों के पुरातत्त्व की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है और ये सभी अलंकरण अपनी-अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध हैं। परन्तु उन सब में कुछ ऐसे कलात्मक अलंकरण भी उपलब्ध होते हैं, जो अपने-अपने धर्म की खास मौलिकता को लिये हुए हैं। जैनों और बौद्धों में स्तूप और अयागपट भी मिलते हैं। अनेक जैन स्तूप गलती से बौद्ध बतला दिये गये हैं। अयागपट भी अपनी खास विशेषता को लिये हुए मिलते हैं। जैसे कंकालीटीला मथुरा से मिले हैं। ये सभी अलंकरण भारतीय पुरातत्त्व की अमूल्य देन हैं।

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहाँ अधिक प्राचीन स्थापत्य तो नहीं मिलते, परन्तु कलचूरी और चंदेलकालीन सौन्दर्याभिव्यंजक अलंकरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उससे पूर्व की सामग्री विरल रूप में पाई जाती है, उस काल की सामग्री प्रायः विनष्ट हो चुकी है, और कुछ भूमिसात् हो गई है। बौद्धों के सांची स्तूप और तद्गत सामग्री पुरानी है। विदिशा की उदयगिरि गुफा में जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा सख्त्र अवस्थित थी, परन्तु वहाँ अब केवल फण ही अवशिष्ट है। मूर्ति का कोई पता नहीं चलता कि कहां गई, परन्तु प्राचीन सामग्री के संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे जाना जाता है कि वहाँ मौर्य और गुप्त काल के अवशेष मिलने चाहिए। कितनी ही पुरातन सामग्री भूगर्भ में दबी पड़ी है और कुछ खण्डहरों में परिणत हुई सिसकियां ले रही है। किन्तु हमारा ध्यान अभी तक उसके समुद्धरण की ओर नहीं गया।

जबलपुर के हनुमानताल के दिगम्बर जैन मन्दिर में स्थित एक कलात्मक मूर्ति शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मूल्यवान् है। वैसे मूर्तियाँ महाकौशल में बहुत ही कम उपलब्ध होंगी। उसमें कला की सूक्ष्म भावना, उदात्त एवं



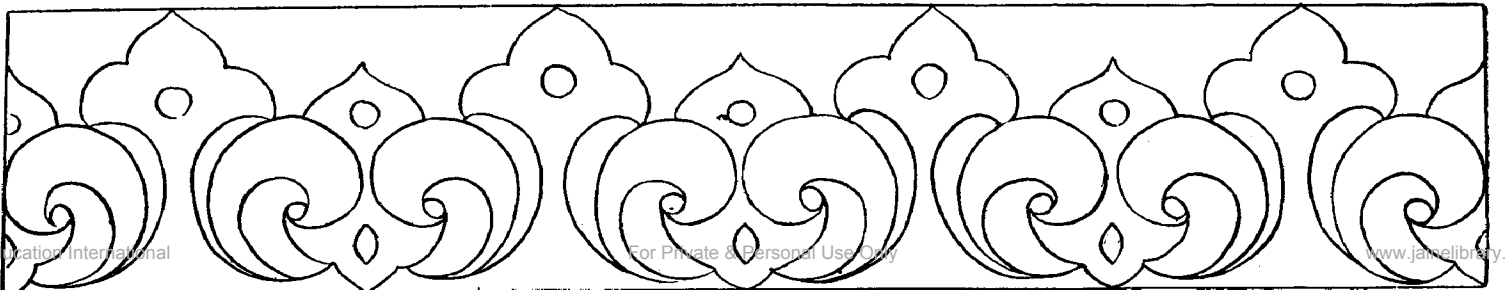
गंभीर विचार और बारीक छैनी का आभास उसके प्रत्येक अंग से परिलक्षित होता है। इसी तरह देवगढ़ का विष्णु-मन्दिर भी गुप्तकालीन कला का सुन्दर प्रतीक है और भी अनेक कलात्मक अलंकरणों का यत्र तत्र संकेत मिलता है, जो तत्कालीन कला की मौलिक देन है। इस तरह उक्त तीनों ही सम्प्रदायों की पुरातात्विक सामग्री का अस्तित्व जरूर रहा है, परन्तु वर्तमान में वह विरल ही है।

मध्यप्रदेश के पुरातात्विक स्थान और उनका संक्षिप्त परिचय

मध्यप्रदेश के खजुराहा, महोवा, देवगढ़, अहार, मदनपुर, बाणपुर, जतारा, रायपुर, जबलपुर, सतना, नवागढ़, ग्वालियर, भिलसा, भोजपुर, मऊ, धारा, बडवानी और उज्जैन आदि पुरातत्त्व की सामग्री के केन्द्रस्थान हैं। इन स्थानों की कलात्मक वस्तुएँ चन्देल और कलचूरी कला का निदर्शन करा रही हैं। यद्यपि मध्यप्रदेश में जैन शास्त्रभंडारों के संकलन की विरलता रही है। ५-७ स्थान ही ऐसे मिलते हैं जहाँ अच्छे शास्त्रभंडार पाए जाते हैं। यद्यपि प्रत्येक मन्दिर में थोड़े बहुत ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं पर अच्छा संकलन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि वहाँ भट्टारकीय परम्परा का प्रभाव अधिक नहीं हो पाया है। जहाँ-जहाँ भट्टारकीय गदियाँ और उनके विहार की सुविधा रही है वहाँ वहाँ अच्छा संग्रह पाया जाता है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का जैसा संकलन राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पंजाब के कुछ स्थानों में पाया जाता है वैसा मध्य प्रदेश में नहीं मिलता। मध्य प्रदेश के जिन कतिपय स्थानों के नामों का उल्लेख किया गया है उन में से कुछ स्थानों का यहाँ संक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का विषय है। यद्यपि मालव प्रान्त भी किसी समय जैन धर्म का केन्द्रस्थल रहा है, और वहाँ अनेक साधु-सन्तों और विद्वानों का जमघट रहा है; खासकर विक्रम की १० वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक वहाँ दि० जैन साधुओं आदि का अध्ययन, अध्यापन तथा विहार होता रहा है, और वहाँ अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है। साथ ही अनेक प्राचीन उत्तुंग मंदिर और मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है, परन्तु राज्यविप्लवादि और साम्प्रदायिक व्यामोह आदि से उनका संरक्षण नहीं हो सका है। अतः कितनी ही महत्त्व की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री विलुप्त हो गई है। जो अवशिष्ट बच पाई है उसका संरक्षण भी दूभर हो गया है। और बाद में उन स्थानों में वैसा मजबूत संगठन नहीं बन सका है, जिससे जैन संस्कृति और उसकी महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन और संरक्षण किया जा सकता।

खजुराहा—यह चन्देलकालीन उत्कृष्ट शिल्पकला का प्रतीक है। यहाँ खजूर का वृक्ष होने के कारण 'खर्जुरपुर' नाम पाया जाता है। खजुराहा जाने के दो मार्ग हैं। एक मार्ग-भाँसी-मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या महोवा से छतरपुर जाना पड़ता है। और दूसरा मार्ग-भाँसी से बीना सागर होते हुए मोटर द्वारा छतरपुर जाया जाता है और छतरपुर से सतना जाने वाली सड़क पर से बीस मील दूर वमीठा में एक पुलिस थाना है, वहाँ से राजनगर को जो दश मील मार्ग जाता है उसके ७ वें मील पर खजुराहा अवस्थित है। मोटर हरपालपुर से तीस मील छतरपुर और वहाँ से खजुराहा होती हुई राजनगर जाती है।

यहाँ भारत की उत्कृष्ट सांस्कृतिक स्थापत्य और वास्तुकला के क्षेत्र में चन्देल समय की देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अंकित किये हुए है। चन्देल राजाओं की भारत को यह असाधारण देन है। इन राजाओं के समय में हिन्दू संस्कृति को भी फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है। उस काल में सांस्कृतिक कला और साहित्य के विकास को प्रश्रय मिला जान पड़ता है। यही कारण है कि उस काल के कला-प्रतीकों का यदि संकलन किया जाय, जो यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है, उससे न केवल प्राचीन कला की रक्षा होगी बल्कि उस काल की कला के महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ेगा और प्राचीन कला के प्रति जनता का अभिनव आकर्षण भी होगा, क्योंकि कला कलाकार के जीवन का सजीव चित्रण है। उसकी आत्म-साधना कठोर छैनी और तत्त्वस्वरूप के निखारने का दायित्व ही उसकी कर्तव्यनिष्ठा एवं एकाग्रता का प्रतीक है। भावों की अभिव्यंजना ही कलाकार के जीवन का मौलिक रूप है, उससे ही जीवन में स्फूर्ति और आकर्षक शक्ति की जागृति होती है। उच्चतम कला के विकास से तत्कालीन इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है।



बुन्देलखण्ड में चन्देल और कलचूरी आदि राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त रहा है, और उस समय अनेक कलापूर्ण मूर्तियां तथा सैकड़ों मन्दिरों का निर्माण भी हुआ है. खजुराहो की कला तो इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है. यद्यपि खजुराहो में कितनी ही खण्डित मूर्तियां पाई जाती हैं, जो साम्प्रदायिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ती हैं.

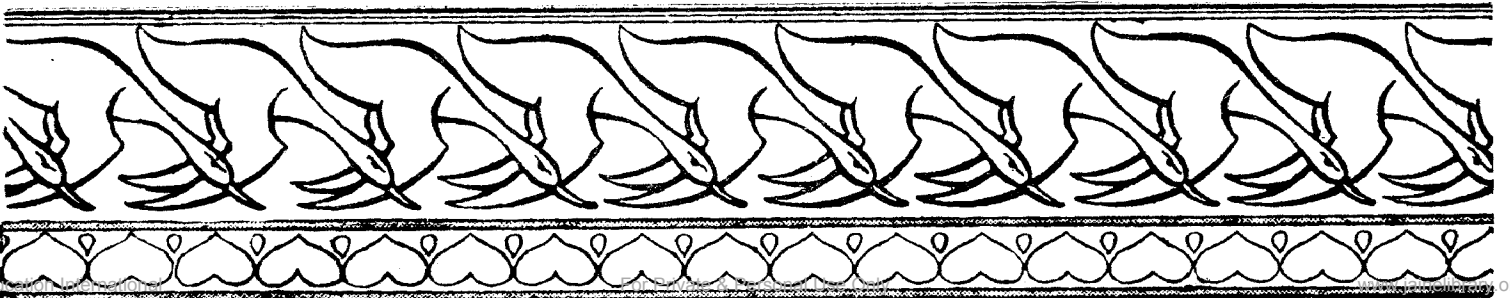
यहाँ मन्दिरों के तीन विभाग हैं. पश्चिमी समूह शिव-विष्णु-मन्दिरों का है. इनमें महादेव का मन्दिर ही सबसे प्रधान है और उत्तरीय समूह में भी विष्णु के छोटे बड़े मन्दिर हैं. दक्षिण-पूर्वीय भाग जैन मन्दिरों के समूह से अलंकृत है. यहाँ महादेवजी की एक विशाल मूर्ति ८ फुट ऊंची और तीन फुट से अधिक मोटी होगी. वराह अवतार भी अतीव सुन्दर है. उसकी ऊँचाई सम्भवतः ३ हाथ होगी. वंगेश्वर मंदिर भी सुन्दर और उन्नत है, काली का मन्दिर भी रमणीय है, पर मूर्ति में माँ की ममता का अभाव दृष्टिगत होता है, उसे भयंकरता से आच्छादित जो कर दिया है, जिससे उसमें जगदम्बा की कल्पना का वह मातृत्व रूप नहीं रहा. और न दया क्षमा ही को कोई स्थान प्राप्त है, जो मानव-जीवन के खास अंग हैं. वहाँ के हिन्दूमन्दिर पर जो निरावरण देवियों के चित्र उत्कीर्ण देखे जाते हैं उनसे ज्ञात होता है कि उस समय विलासप्रियता का अत्यधिक प्रवाह बह रहा था. इसी से शिल्पियों की कला में भी उसे यथेष्ट प्रश्रय मिला है. खजुराहो की नन्दी मूर्ति दक्षिण के मन्दिरों में अंकित नन्दी मूर्तियों से बहुत कुछ साम्य रखती है. यद्यपि दक्षिण की मूर्तियां आकार-प्रकार में कहीं उससे बड़ी हैं.

वर्तमान में यहाँ तीन ही हिन्दू मन्दिर और तीन ही जैन मन्दिर हैं. उनमें सबसे प्रथम मंदिर घंटाई का है. यह मन्दिर खजुराहा ग्राम की ओर दक्षिण पूर्व की ओर अवस्थित है, इसके स्तम्भों में घण्टियों की बेल बनी हुई है. इसी से इसे घण्टाई का मन्दिर कहा जाता है. इस मन्दिर की शोभा अपूर्व है.

दूसरा मन्दिर आदिनाथ का है. यह मन्दिर घण्टाई मन्दिर के हाते में दक्षिण उत्तर-पूर्व की ओर अवस्थित है. यह मंदिर भी रमणीय और दर्शनीय है. इस मन्दिर में पहले जो मूल नायक की मूर्ति स्थापित थी वह कहीं गई, यह कुछ ज्ञात नहीं होता. तीसरा मन्दिर पार्श्वनाथ का है. यह मन्दिर सब मन्दिरों से विशाल है. इसमें पहले आदिनाथ की मूर्ति स्थापित थी, उसके गायब हो जाने पर इसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई है. इस मन्दिर की दीवारों के अलंकरणों में वैदिक देवताओं की मूर्तियां भी उत्कीर्ण हैं. यह मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय है और संभवतः दशवीं शताब्दी का बना हुआ है. इसके पास ही शान्तिनाथ का मन्दिर है. इन सब मन्दिरों के शिखर नागर शैली के बने हुए हैं. और भी जहाँ तहाँ बुन्देलखण्ड में मन्दिरों के शिखर नागर शैली के बने हुए मिलते हैं. ये मंदिर अपनी स्थापत्यकला, नूतनता और विचित्रता के कारण आकर्षक हैं. यहाँ की मूर्तिकला, अलंकरण और अनुल रूपराशि मानव-कल्पना को आश्चर्य में डाल देती है. इन अलंकरणों एवं स्थापत्य कला के नमूनों में मंदिरों का बाह्य और अन्तर्भाव-विभूषित है. जहाँ कल्पना में सजीवता, भावना में विचित्रता तथा विचारों का चित्रण, इन तीनों का एकत्र संचित समूह ही मूर्तिकला के आदर्शों का नमूना है, जिननाथ मन्दिर के बाह्य द्वार पर संवत् १०११ का शिलालेख अंकित है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मंदिर चन्देल राजा धंग के राज्यकाल से पूर्व बना है. उस समय मुनि वासवचन्द के समय में पाहलवंश के एक व्यक्ति पाहिल ने, जो धंगराजा के द्वारा मान्य था, उसने मंदिर को एक बाग भेंट किया था जिसमें अनेक वाटिकाएँ बनी हुई थीं.^१

शान्तिनाथ का मन्दिर—इस मन्दिर में एक विशाल मूर्ति जैनियों के १६वें तैर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ की है, जो १४ फुट ऊँची है. यह मूर्ति शान्ति का प्रतीक है, इसकी कला देखते ही बनती है. मूर्ति सांगोपांग अपने दिव्य प्रशान्त रूप में स्थित है. और ऐसी ज्ञात होती है कि शिल्पी ने अभी बनाकर तैयार की हो. मूर्ति कितनी चित्ताकर्षक है यह लेखनी से परे की बात है. शिल्पी की बारीक छैनी से मूर्ति का निखरा हुआ वह कलात्मक रूप दर्शक को आश्चर्य में डाल देता

१. ओ (iix) संवत् १०११ समये ॥ निजकुल धवलोयं दि—



है और वह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ उसे देखने की बार बार उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है. मूर्ति के अगल बगल में अनेक सुन्दर मूर्तियां विराजित हैं जिनकी संख्या अनुमानतः २५ से कम नहीं जान पड़ती. यहां सहस्रों मूर्तियां खण्डित हैं. सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण बहुत बारीकी के साथ किया गया है. इस मंदिर के दरवाजे पर एक चौतीसा यंत्र है, जिसमें सब तरफ से अंकोंको जोड़ने पर उनका योग चौतीस होता है. यह यंत्र बड़ा उपयोगी है. जब कोई बालक बीमार होता है तब उस यन्त्र को उसके गले में बांध दिया जाता है ऐसी प्रसिद्धि है. भगवान् शान्तिनाथ की इस मूर्ति के नीचे निम्न लेख अंकित है, जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति विक्रम की ११ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण की है: सं १०८५ श्रीमान् आचार्यपुत्र श्रीठाकुर देवधर सुत श्री शिविश्रीचन्द्रयदेवाः श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारितेति.”

खजुराहे की खंडित मूर्तियों में से कुछ लेख निम्न प्रकार हैं :

१—सं० ११४२ श्री आदिनाथाय प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी वीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती.

चौथे नं० की वेदी में कृष्ण पाषाण की हथेली और नासिका से खण्डित जैनियों के बीसवें तीर्थंकर मुनिमुद्रतनाथ की एक मूर्ति है. उसके लेख से मालूम होता है कि यह मूर्ति विक्रम की १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रतिष्ठित हुई है. लेख में मूलसंघ देशीगण के पंडित नागनन्दी के शिष्य पं० भानुकीर्ति और आर्यिका मेरुश्री द्वारा प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है. वह लेख इस प्रकार है : 'सं० १२१५ माघ सुदी ५ रवौ देशीयगणे पंडित नाह [ग] नन्दी तच्छिष्यः पंडित श्री भानुकीर्ति आर्यिका मेरुश्री प्रतिनन्दन्तु'.

इस तरह खजुराहा स्थापत्यकला की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय है.

महोवा—इसका प्राचीन नाम काकपुर, पाटनपुर और महोत्सव या महोत्सवपुर था. इस राज्यका संस्थापक चंदेलवंशी राजा चन्द्रवर्मा था जो सन् ८०० में हुआ है. इस राज्य के दो राजाओं का नाम खूब प्रसिद्ध रहा है. उनका नाम कीर्तिवर्मा और मदनवर्मा था. ईस्वी सन् १०० के लगभग राजधानी खजुराहा से महोवा में स्थापित हो गई थी. कनिष्क ने अपनी रिपोर्ट में इसका नाम 'जंजाहति' दिया है. चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने भी अपने यात्राविवरण में, 'जैनाभुक्ति' का उल्लेख किया है. यहां की भीलें प्रसिद्ध हैं. यहां नगर में हिन्दू और मुसलमानों के स्मारक भी मिलते हैं. जैन संस्कृति की प्रतीक जैन मूर्तियां भी यत्र-तत्र छितरी हुई मिलती हैं. कुछ समय पहले खुदाई करने पर यहां बहुत-सी जैन मूर्तियां मिली थीं, जो संभवतः सं० १२०० के लगभग थीं. उनमें से एक ललितपुर क्षेत्रपाल में और शेष बांदा में विराजमान हैं.

यहां एक २० फुट ऊंचा टीला है. वहां से अनेक खण्डित जैन मूर्तियां मिली हैं. महोवा के आस-पास के ग्रामों और नगरों में भी अनेक ध्वस्त जैनमंदिर और मूर्तियां उपलब्ध होती हैं. उन खण्डित मूर्तियों के आसनों पर जो छोटे-छोटे लेख मिले हैं, उनमें से कुछ लेखों का सार निम्न प्रकार है :

१—'संवत् ११६६ राजा जयवर्मा. २—सं० १२०३. ३—श्री मदनवर्मा देवराज्ये सं० १२११ आषाढ सु० ३ शनौ देव श्रीनेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण. ४—सुमतिनाथ सं० १२१३ माघ सु० दू० गुरौ, ५—सं० १२२० जेठ सुदी ८ रवौ

२. व्यमूर्तिस्व (श्री) ल स (श) म दमगुणयुक्त सर्व
३. सत्वानुकपो (ix) स्वजनिततोषो धांगराजेन
४. मान्यः प्रणमति जिननाथोयं भव्य (व्य) पाहिल (लल).
५. नामा. (ii) १॥ पाहिलवाटिका १ चन्द्रवाटिका.
६. लघुचन्द्रवाटिका ३ सं० (शं) करवाटिका ४ पंचाइ
७. तलुवाटिका ५ आम्रवाटिका ६ व (धं) गवाड़ी ७ (iix).
८. पाहिलवंसे (श्री) तुन्नये कीणे अपरवेशो यः कोपि.
९. तिष्ठति (ix) तस्य दासस्य दासोयं ममदत्तिस्तु पाल—
१०. येत् ॥ महाराज गुरु स्त्री (श्री) वासवचन्द्र (:iix)
वेव (शा) व (ख) सुदि ७ सोमदिने.



साधुदेव गण तस्य पुत्र रत्नपाल प्रणमति नित्यं. ६—.....तत्पुत्राः साधुश्री रत्नपाल तस्य भार्या साधा पुत्र कीर्तिपाल, अजयपाल, वस्तुपाल तथा त्रिभुवनपाल अजितनाथाय प्रणमति नित्यं.^१ एक लेख में जो 'सं० १२२४ आषाढ सुदी २ रवी' के दिन परमार्द्धि देव के राज्यकाल का है, उसमें चंदेलवंश के राजाओं के नाम दिये हुए हैं. श्रावकों के नाम ऊपर दिये गये हैं. इन सब उल्लेखों से महोवा जैन संस्कृति का कभी केन्द्र रहा था. इसका आभास सहज ही हो जाता है.

देवगढ़ का इतिहास

देवगढ़—दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर जाखलौन स्टेशन से ६ मील की दूरी पर है. इस नाम का एक छोटा-सा ऊजड़ ग्राम भी है. इस ग्राम में आबादी बहुत थोड़ी सी है. यह वेत्रवती (वेतवा) नदी के मुहाने पर नीची जगह बसा हुआ है. वहां से ३०० फुट की ऊँचाई पर करनाली दुर्ग है. जिसके पश्चिम की ओर वेतवा नदी कलकल निनाद करती हुई बह रही है. पर्वत की ऊँचाई साधारण और सीधी है. पहाड़ पर जाने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग बना हुआ है, प्राचीन सरोवर को पार करने के बाद पाषाणनिर्मित एक चौड़ी सड़क मिलती है, जिसके दोनों ओर खदिर (खैर) और साल के सघन छायादार वृक्ष मिलते हैं. इसके बाद एक भग्न तोरण द्वार मिलता है, जिसे कुंजद्वार भी कहते हैं. यह पर्वत की परिधि को बँड़े हुए कोट का द्वार है. यह द्वार प्रवेशद्वार भी कहा जाता है. इसके बाद दो जीर्ण कोटद्वार और भी मिलते हैं. ये दोनों कोट जैनमन्दिरों को घेरे हुए हैं. इनके अन्दर देवालय होने से इसे देवगढ़ कहा जाने लगा है, क्योंकि यह देवों का गढ़ था. परन्तु यह इसका प्राचीन नाम नहीं है. इसका प्राचीन नाम 'लुच्छगिरि' या 'लच्छगिरि' था, जैसा कि शान्तिनाथ मन्दिर के सामने वाले हाल के एक स्तम्भ पर शक संवत् ७८४ (वि० सं० ६१६) में उत्कीर्ण हुए गुर्जर प्रतिहार वत्सराज आम के प्रपौत्र और नागभट्ट द्वितीय या नागावलोक के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर राजा भोजदेव के शिलालेख से स्पष्ट है. उस समय यह स्थान भोजदेव के शासन में था. इस लेख में बतलाया है कि शान्तिनाथमन्दिर के समीप श्री कमलदेव नाम के आचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ को बनवाया था. यह वि० सं० ६१६ आश्विन सुद १४ बृहस्पतिवार के दिन भाद्रपद नक्षत्र के योग में बनाया गया था.^२

विक्रम की १२वीं शताब्दी के मध्य में इसका नाम कीर्तिगिरि रक्खा गया था. पर्वत के दक्षिण की ओर दो सीढ़ियाँ हैं. जिनको राजघाटी और नाहर घाटी के नाम से पुकारा जाता है. वर्षा का सब पानी इन्हीं में चला जाता है. ये घाटियाँ चट्टान से खोदी गयी हैं. जिन पर खुदाई की कारीगरी पायी जाती है. राजघाटी के किनारे आठ पंक्तियों का छोटा सा सं० ११५४ का एक लेख उत्कीर्ण है.^३ जिसे चंदेलवंशी राजा कीर्तिवर्मा के प्रधान अमात्य वत्सराज ने खुदवाया था.

(१) देखो, कनिंघम सर्वेरेपोर्ट जिल्द २१ पृ० ७३, ७४.

(२) १. (ओं) परम भट्टारक) महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भो—

२. ज देव पट्टी वर्द्धमान—कल्याणविजय राज्ये ।

३. तत्प्रदत्त—पञ्च महाशब्द—महासामन्त श्री विष्णु ।

४. र—म परिभुज्य या (के) लुच्छगिरि श्री शान्तमत (न)

५. (स) निधे श्री कमल देवाचार्य शिष्येण श्रीदेवेन कारा

६. पितं इदं स्तम्भं ॥ संवत् ६१६ अश्व (श्व) युज० शुक्ल

७. पक्ष चतुर्दश्यां बृहस्पति दिनेन उत्तर भाद्र प

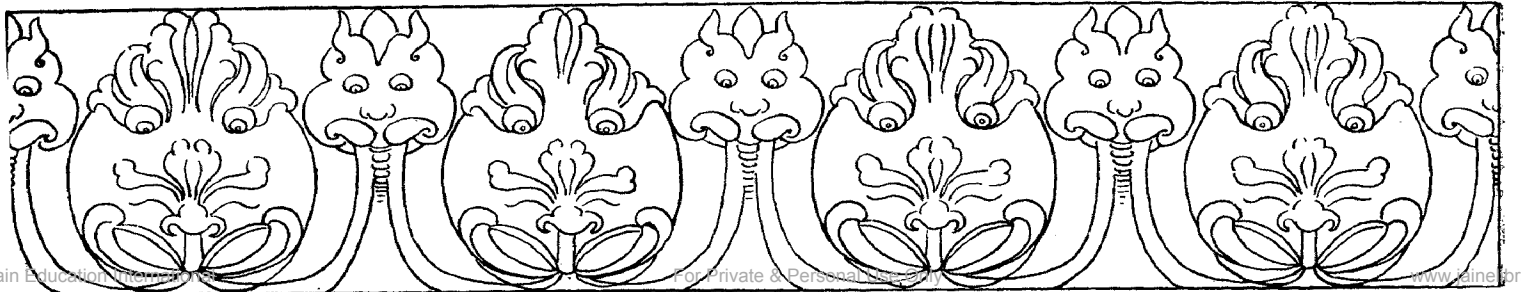
८. द नक्षत्रे इदं स्तम्भं समाप्त मिति ॥०॥

(३) चांदेलवंशकुमुदेदुविशालकीर्तिः, ख्यातो बभूव नृप संघनतांघ्रिपद्मः ।

विद्याधरो नरपतिः कमलानिवासो, जातस्ततो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः ॥

तस्माद्धर्मपरश्रीमान् कीर्तिवर्मनृपोऽभवत् । यस्य कीर्तिसुधाशुभ्रे त्रैलोक्यं सोधतामगात् ॥

अगदं नूतनं विष्णुमाविभूतमवाप्य यम् । नृपाब्धि तस्समाकृष्य श्रीरस्थैर्यप्रमार्जयत् ॥



यह बड़ा विद्वान् और पराक्रमी था. इसने अपने शत्रुओं से इस प्रदेश-मण्डल को जीता था और इस दुर्ग का नाम 'कीर्तिगिरि' रक्खा था. कीर्तिवर्मा चन्देलवंश का प्रतापी शासक था और शत्रुकुल को दलित करने वाला वीर योद्धा था, जैसा कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के निम्न पद्य से प्रकट है:

नीता क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा, रक्षावती क्षितिभूतप्र थितैरमात्यै ।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालमौलि-मालाक्षितं भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥३॥

दूसरी नाहरघाटी के किनारे भी एक छोटा ७ पंक्तियों का अभिलेख अंकित है. यहां एक गुफा है, जिसे सिद्धगुफा भी कहा जाता है. यह भी पहाड़ में खुदी हुई है. जिसका मार्ग पहाड़ पर से सीढ़ियों द्वारा नीचे जाता है. इसके तीन द्वार हैं, दो खंभों पर छत भी अवस्थित है. इस गुफा के अन्दर भी गुप्त समय का छोटा-सा लेख अंकित है, जो संवत् ६०६ सन् ५५२ का बतलाया जाता है. इसमें सूर्यवंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है. यह लेख गुप्तकालीन है. एक दूसरा भी लेख है जिसमें लिखा है कि राजा वीर ने संवत् १३४२ में तुण को जीता था.

इस सब कथन पर से जाना जाता है कि इसका देवगढ़ नाम विक्रम की १२वीं शताब्दी के अन्त में या १३वीं के प्रारम्भ में किसी समय हुआ है. यह स्थल अनेक राजाओं के राज्यकाल में अवस्थित रहा है. इस प्रान्त में पहले सहरियों का राज्य था, पश्चात् गौड़ राजाओं ने अधिकार कर लिया था. स्कन्दगुप्त आदि इस वंश के कई राजाओं के शिलालेख अब तक देवगढ़ में पाये जाते हैं. इनके बाद कन्नौज के भोजवंशी राजाओं ने इस प्रान्त को अपने अधिकार में किया था. इसके पश्चात् चंदेल वंशी राजाओं का इस पर स्वामित्व रहा. सन् १२६४ ई० में यह विशालनगर था. उस समय यह बहुत सुन्दर और सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान था. इसी वंश ने दतिया के किले का निर्माण कराया था. ललितपुर के आसपास इस वंश के अनेक लेख उपलब्ध होते हैं, इस वंश की राजधानी महोबा थी. इनके समय जैन-धर्म को पल्लवित होने का अच्छा अवसर मिला था. इस वंश के शासन-समय की अनेक कलाकृतियां, मन्दिर और जैन मूर्तियां महोबा, अहार, टीकमगढ़, मदनपुर, नावई और जखौरा आदि स्थानों पर पाई जाती हैं.

महाराजा सिन्धिया की ओर से कर्नल वैंयटिस्टि किलोज ने सन् १६२१ में देवगढ़ पर चढ़ाई की थी. उसने तीन दिन वराबर लड़कर उस पर अधिकार कर लिया. चंदेरी के बदले में महाराज सिन्धिया ने देवगढ़ हिन्द-सरकार को दे दिया था. हो सकता है कि किले की दीवार चंदेलवंशी राजाओं ने बनवाई हो, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता. उसकी मोटाई १५ फुट की है जो विना सीमेंट के केवल पाषाण से बनी हुई है. नदी की ओर की हृदबंदी की दीवाल बनी होगी, तो वह गिर गई होगी, या फिर वह बनवाई ही नहीं गई. परन्तु ऊँचाई कहीं भी २० फुट से अधिक नहीं है. उत्तरी पश्चिमी कोने से एक दीवार २१ फुट मोटी है, जो ६०० फुट तक पहाड़ी के किनारे चली गई है. संभवतः यह दीवार दूसरे किले की हो, जो अब विनष्ट हो चुका है.

देवगढ़ का यह स्थान कितना सुरम्य और चित्ताकर्षक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं. वेत्रवदी नदी के किनारे-किनारे दाहिनी तरफ मैदान अत्यन्त ढालू हो गया है. पहाड़ की विकट घाटी में उक्त सरिता सहसा पश्चिम की ओर मुड़ जाती है. वहां की प्राकृतिक सुषमा और कलात्मक सौंदर्य दोनों ही अपनी अनुपम छटा प्रदर्शित करते हैं. वहां दर्शकों को वैभव की असारता के स्पष्ट दर्शन होते हैं. जो स्पष्ट सूचित कर रहे हैं कि—हे पामर नर ! तू वैभव के अहंकार में इतना क्यों इठला रहा है ? एक समय था जब हम भी गर्व में इठला रहे थे. उस समय हमें भावी परि-

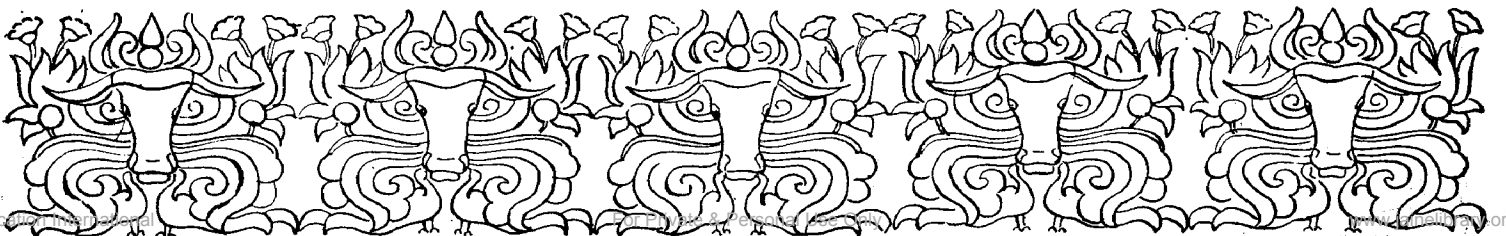
राजोडुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य, नूनं युधिष्ठिर-शिव-रामचन्द्रः ।

एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौ निविष्टा, यत्तद् गुणप्रकररत्नमये शरीरे ॥

तदीयामात्यमन्त्री दो रमणीपुरविनिर्गतः । वत्सराजोति विख्यात श्रीमान्महीधरात्मजः ॥

ख्यातो बभूव किल मन्त्रपदैकमात्रे, वाचस्पतिस्तदिह मन्त्रगुणैरुभास्याम् ॥

योऽयं समस्तमपि मण्डलमाशु शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरिदुर्गमिदं व्यधत्ते ॥ संवत् ११५४ चैत्र वदि २ बुधौ, (देवगढ़ शिलालेख)



वर्तनों का कोई आभास नहीं था, किन्तु दुर्दैव के कारण हमारी यह अवनत अवस्था हुई है. अतः तू अब भी समझ और सावधान हो.

विन्ध्य पर्वतमालाकी सघन वनाच्छादित सुरम्य उपस्थली में यह पुण्यक्षेत्र जीवनदायिनी सलिला वेत्रवती से सटी हुई डूँदो मील लम्बी पहाड़ी के ऊपर एक चौकोर लम्बे मैदान के भाग में फैला हुआ पग पग पर अनुपम सांस्कृतिक जीवन-कला की विभूतियों के मनमोहक दृश्य उपस्थित करता है. जिसमें तल्लीन होकर एक बार दर्शक-हर्ष विषाद, सुख-दुःख, मोह-मत्सर काम आदि के संस्कार रूपी बन्धनों से मुक्त होकर प्रकृति की गोद में विलीन सा हो जाता है और अपने सारे अहंकारमय ऐहिक अस्तित्व को भूल कर अपने आप को न्यूनतम से न्यूनतम रजकण से भी तुच्छ पाता है. प्रशान्त मूर्तियाँ, वेदिका, स्तम्भ, तोरण, दीवारें और अन्य कलात्मक अलंकरण, जो यशस्वी शिल्पियों द्वारा चमत्कारपूर्ण सामग्री निर्मित की गई है वह अपनी मूक प्रेरणा द्वारा भिन्न-भिन्न विचार-मुद्राओं में आध्यात्मिक जीवन की झांकी का सन्देश प्रस्तुत करती है. कहीं चामत्कारिक मूर्ति-निर्माणकला के छिटकते हुए सौंदर्य से देदीप्यमान प्रतीकों, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशालकाय मूर्तियों और अगणित अर्हन्तों की विचारप्रेरक मुद्राओं वाले प्रतिबिम्ब उस वनस्थली की स्तब्ध शांति के मूक स्वर में आनन्दविभोर दिखाई देते हैं और कहीं चक्रेश्वरी, पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती आदि जिनशासनरक्षिका देवियों की मुद्राएं, अद्भुत भावप्रेरक अनेक देवियों के अलंकृत अवयव अपनी भाव-भंगियों से मानो सुषमा ही उड़ेल रहे हैं.

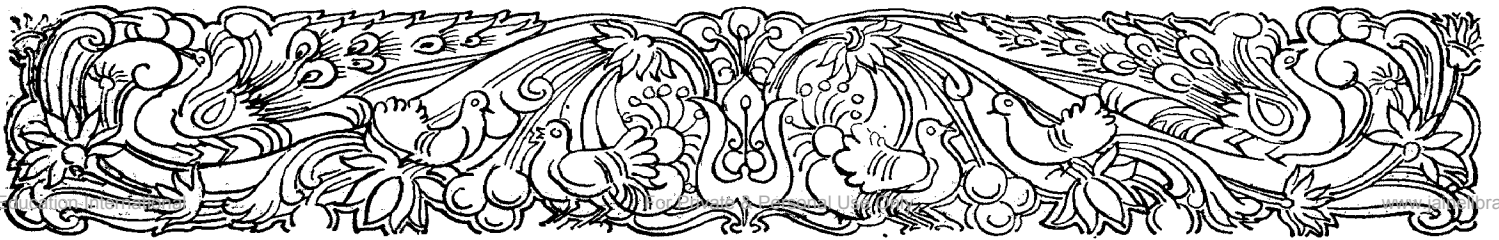
गुप्तकालीन मंदिर—किले के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर वराह का प्राचीन मन्दिर खंडितावस्था में मौजूद है. उसके निर्माण के सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता. नीचे के मैदान में गुप्तकालीन विष्णुमन्दिर बना हुआ है, यह पूर्ण रूप से सुरक्षित है, भारतीय कलाविद् इसके कारण ही देवगढ़ से परिचित हैं. यह मन्दिर गुप्त काल के बाद किसी समय बना है. कहा जाता है कि गुप्तकाल में मंदिरों के शिखर नहीं बनाये जाते थे, परन्तु इसमें शिखर होने के शिह्न मौजूद हैं. मालूम होता है कि इसका शिखर खंडित हो गया है. यह मंदिर जिन पाषाणखण्डों से बना है, वे अत्यन्त कलापूर्ण और सुन्दर हैं.^१ इस मंदिर की कला के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् स्मिथ साहब कहते हैं कि— देवगढ़ में गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है वह देवगढ़ का पत्थर का बना हुआ एक छोटा सा मंदिर है. यह ईशा छठी अथवा पांचवीं शताब्दी का बना है. इस मंदिर की दीवारों पर जो प्रस्तरफलक लगे हैं उनमें भारतीय मूर्तिकला के कुछ बहुत ही बढ़िया नमूने अंकित हैं.^२

इस मंदिर की खुदाई के समय जो मूर्तियाँ मिलीं, उनमें से एक में पंचवटी का वह दृश्य अंकित है जहाँ लक्ष्मण ने रावण की बहन सूर्पनखा की नाक काटी थी. अन्य एक पाषाण में राम और सुग्रीव के परस्पर मिलन का अपूर्व दृश्य अंकित है. एक अन्य पत्थर में राम लक्ष्मण का शबरी के आश्रम में जाने का दृश्य दिखाया गया है. इसी तरह के अन्य दृश्य भी रहे होंगे. रामायण की कथा के यह दृश्य अन्यत्र मेरे अवलोकन में नहीं आये. यहीं पर नारायण की मूर्ति है. और एक पत्थर में गजेन्द्रमोक्ष का दृश्य भी उत्कीर्ण है. दक्षिण की ओर दीवार में शेषशायी विष्णु की मूर्ति है, जो बड़े आकार के लाल पत्थर में खोदी गई है. इससे यह मंदिर भी अपना विशेष महत्त्व रखता है.

जैन मन्दिर और मूर्तिकला:— देवगढ़ में इस समय ३१ जैन मन्दिर हैं जिनकी स्थापत्यकला मध्यभारत की अपूर्व देन है. इनमें से नं० ४ के मन्दिर में तीर्थंकर की माता सोती हुई स्वप्नावस्था में विचार-मग्न मुद्रा में दिखलाई गई है. नं०

१. देखो, भारतीय पुरातत्व की रिपोर्ट दयाराम साहनी.

२. The most important and interesting stone temple of Gupta age is one of moderate dimensions at Deogarh, which may be assigned to the first half of sixth or perhaps to the fifth Century. The panels of the walls contain some of the finest specimens of Indian sculpture.



५ का मंदिर सहस्रकूट चैत्यालय है जिसकी कलापूर्ण मूर्तियाँ अपूर्व दृश्य दिखलाती हैं. इस मन्दिर के चारों ओर १००८ प्रतिमाएं खुदी हैं. बाहर सं० ११२० का लेख भी उत्कीर्णित है, जो सम्भवतः इस मन्दिर के निर्माणकाल का ही द्योतक है. नं० ११ के मन्दिर में दो शिलाओं पर चौबीस तीर्थंकरों की बारह-बारह प्रतिमाएं अंकित हैं. ये सभी मूर्तियाँ प्रशान्त मुद्रा को लिये हुए हैं.

इन सब मन्दिरों में सबसे विशाल मन्दिर नं० १२ है, जो शान्तिनाथ मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है. जिसके चारों ओर अनेक कलाकृतियाँ और चित्र अंकित हैं. इसमें शान्तिनाथ भगवान की १२ फुट उत्तुंग प्रतिमा विराजमान है, जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है. और चारों कोनों पर अम्बिका देवी की चार मूर्तियाँ हैं, जो मूर्तिकला के गुणों से समन्वित हैं. इस मन्दिर की बाहरी दीवाल पर जो २४ यक्ष यक्षणियों की सुन्दर कलाकृतियाँ बनी हुई हैं, इनकी आकृतियों से भव्यता टपकती है. साथ ही १८ लिपियों वाला लेख भी वरामदे में उत्कीर्णित है. इन सब कारणों से यह मन्दिर अपनी सानी नहीं रखता.

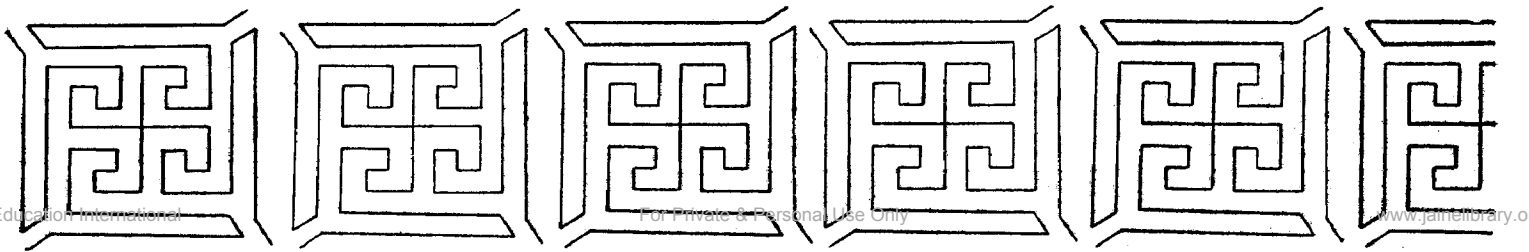
देवगढ़ के जैन मन्दिरों का निर्माण, उत्तर भारत में विकसित आर्यनागर शैली में हुआ है. यह दक्षिण की द्रविड़ शैली से अत्यन्त भिन्न है. नागर शैली का विकास गुप्तकाल में हुआ है. देवगढ़ में तो उक्त शैली का विकास पाया ही जाता है किन्तु खजुराहो आदि के जैन मन्दिरों में भी इसी कला का विकास देखा जाता है. यह कला पूर्णरूप से भारतीय है और प्राग्मुस्लिमकालीन है. इतना ही, नहीं, किन्तु समस्त मध्य प्रान्त की कला इसी नागर शैली से ओत-प्रोत है. इस कला को गुप्त, गुर्जर प्रतिहार और चंदेलवंशी राजाओं के राज्य काल में पल्लवित और विकसित होने का अवसर मिला है.

देवगढ़ की मूर्तियों में दो प्रकार की कला देखी जाती है. प्रथम प्रकार की कला में कलाकृतियाँ अपने परिकरों से अंकित देखी जाती हैं, जैसे चमरधारी यक्ष यक्षणियाँ. सम्पूर्ण प्रस्तराकार कृति में नीचे तीर्थंकर का विस्तृत आसन और दोनों पार्श्वों में यक्षादि अभिषेक-कलश लिए हुए दिखलाये गये हैं. किन्तु दूसरे प्रकार की कला मुख्य मूर्ति पर ही अंकित है, उसमें अन्य अलंकरण और कलाकृतियाँ गौण हो गई हैं. मालूम होता है इस युग में साम्प्रदायिक विद्वेष नहीं था, और न धर्मान्धता ही थी, इसीसे इस युग में भारतीय कला का विकास जैनों, वैष्णवों और शैवों में निर्विरोध हुआ है. प्रस्तुत देवगढ़ जैन और हिंदू संस्कृति का सन्धिस्थल रहा है. तीर्थंकरमूर्तियाँ, सरस्वती की मूर्ति, पंच परमेष्ठियों की मूर्तियाँ, कलापूर्ण मानस्तम्भ, अनेक शिलालेख, और पौराणिक दृश्य अंकित हैं. साथ ही बराह का मंदिर, गुफा में शिव-लिंग, सूर्य भगवान् की मुद्रा, गणेश मूर्ति, भारत के पौराणिक दृश्य, गजेन्द्रमोक्ष आदि कलात्मक सामग्री देवगढ़ की महत्ता की द्योतक है.

भारतीय पुरातत्त्वविभाग को देवगढ़ से २०० शिलालेख मिले हैं जो जैन मन्दिरों, मूर्तियों और गुफाओं आदि में अंकित हैं. इन में साठ शिलालेख ऐसे हैं जिनमें समय का उल्लेख दिया हुआ है. ये शिलालेख सं० ६०६ से १८७६ तक के उपलब्ध हैं. इनमें सं० ६०६ सन् ५५२ का लेख नाहरचाटी से प्राप्त हुआ था, इसमें सूर्यवंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है. सं० ६१६ का शिलालेख जैन संस्कृति की दृष्टि से प्राचीन है. इस लेख में भोज देव के समय पंच महाशब्द प्राप्त महासामन्त विष्णुराम के शासन में इस लुअच्छगिरि के शान्तिनाथ मंदिर के निकट गोष्ठिक वजुआ द्वारा निर्मित मानस्तम्भ आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव द्वारा वि० सं० ६१६ आश्विन १४ बृहस्पतिवार के दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में प्रतिष्ठित किया गया था. इसी तरह अन्य छोटे छोटे लेख भी जैन संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं. इस तरह देवगढ़ मध्यप्रदेश की अपूर्व देन है.

अहार क्षेत्र:— बुदेलखण्ड में खजुराहो की तरह अहार क्षेत्र भी एक ऐतिहासिक स्थान है. देवगढ़ की तरह यहाँ प्राचीन मूर्तियाँ और लेख पाये जाते हैं. उपलब्ध मूर्तियों के शिलालेखों से जान पड़ता है कि विक्रम की ११ वीं से १३ वीं शताब्दी तक के लेखों में अहार की प्राचीन बस्ती का नाम 'मदनेशागरपुर' था.^१ और उसके शासक श्री मदनवर्मा

१. सं० १२०८ और १२३७ के लेखों में मदनेशागरपुर का नामांकन हुआ है; देखो, अनेकान्त वर्ष ६ कि० १० पृष्ठ ३८५-६.



थे, जो चंदेलवंश के यशस्वी नक्षत्र थे. इस नगर के पास जो विशाल सरोवर बना हुआ है वह वर्तमान 'मदनसागर' नाम से प्रसिद्ध है. इसके किनारे अनेक प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न हुए हैं. मदनवर्मा का शासन विक्रम की ११ वीं शताब्दी में विद्यमान था. उसके बाद ही किसी समय इसका नाम 'अहार' प्रसिद्ध हुआ होगा.

यहाँ के उपलब्ध मूर्तिलेखों में खंडेलवाल, जैसवाल, मेडवाल, लमेन्नु, पौरपाट (परवार) गृहपति, गोलापूर्व, गोलाराड, अवधपुरिया और गर्गराट् आदि अनेक उपजातियों के उल्लेख मिलते हैं, जो उनकी धार्मिक रुचि के द्योतक हैं. उनसे यह भी स्पष्ट जाना जाता है कि उस काल में यह खूब सम्पन्न रहा होगा. क्योंकि वहाँ विविध उपजातियों के जैन जन रहते थे और गृहस्थोचित षट्कर्मों का पालन करते थे. ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह स्थान ७०० वर्षों तक जैन संस्कृति के आचार-विचारों से परिपूर्ण रहा है, क्योंकि यहाँ वि० सं० ११२३ और ११६६ से लेकर वि० सं० १६६८ तक की प्राचीन मूर्तियाँ और लेख उपलब्ध होते हैं. ये सब लेख ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं और अतीत के गौरव की अपूर्व भांकी प्रस्तुत करते हैं. यदि वहाँ खुदाई कराई जाय तो संभवतः और भी पुरातन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हो सकते हैं. इन लेखों में सबसे अधिक लेख जैसवालों और गोलापूर्वों के पाये जाते हैं. उनसे उन जातियों के धर्म-प्रेम की झलक मिलती है.

संवत् १२१३ के एक लेख में भट्टारक माणिक्यदेव तथा गुण्यदेव का नाम उत्कीर्ण है. और सं० १२१६ के लेख में श्रीसागरसेन सैद्धांतिक, आधिका जयश्री और चेली रतनश्री का उल्लेख है. सं० १२१६ के एक दूसरे लेख में कुटकान्वयी पंडित लक्ष्मणदेव शिष्य आर्य देव आधिका लक्ष्मश्री चेली चारित्रश्री और भ्राता लिम्बदेव का नाम अंकित है. सं० १२१६ के एक तीसरे लेख में कुटकान्वय पंडित मंगलदेव, और उनके शिष्य भ० पद्मदेव का नामांकन है. सं० १५४८ के लेख में भट्टारक 'जिनचन्द्र' और शाह जीवराज पापडीवाल का नामोल्लेख है. १५०२ के एक लेख में भ० गुणकीर्ति के पट्टधर मलयकीर्ति के द्वारा प्रतिष्ठा कराने का भी उल्लेख पाया जाता है.^१ इसी तरह अन्य अनेक लेखों में जो विद्वानों भट्टारकों या श्रावक श्राविकाओं के नाम का अंकन मिलता है, वह इतिहास की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है.

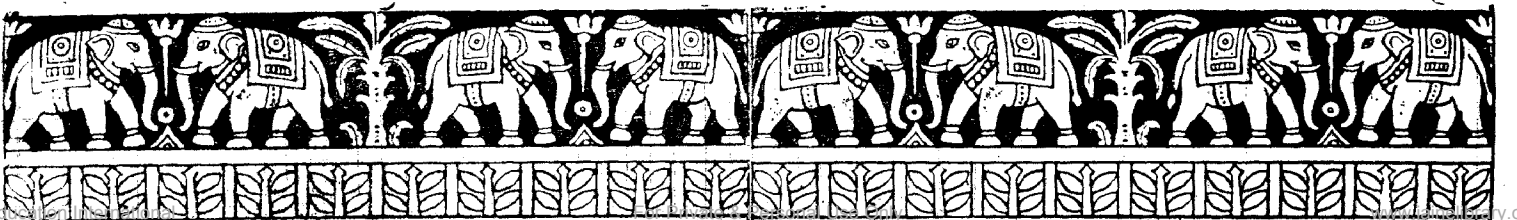
अहार क्षेत्र में भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा कराने वाला गृहपति वंश जैनधर्म का अनुयायी था. जैनधर्म की परम्परा उसके वंश में पहले से चली आ रही थी, क्योंकि इस वंश के देवपाल ने बाणपुर के सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया था. ऐसा शान्तिनाथ की मूर्ति के सं० १२३७ के लेख के प्रथम पद्य से प्रकट है.^२ बाणपुर का उक्त जिनालय कब बना यह निश्चित नहीं है किन्तु सं० १२३७ के लेख में जो उल्लेख है उससे पहले बना है. लेख में प्रयुक्त देवपाल, रत्नपाल, रल्हण गल्हण जाहड और उदयचन्द्र का नाम आता है. गल्हण ने शान्तिनाथ का चैत्यालय बनवाया था और दूसरा चैत्यालय मदनसागरपुर में निर्माण कराया था और इनके पुत्र जाहड और उदयचन्द्र ने इस मूर्ति का निर्माण कराया है. इससे इस कुटुम्ब की धार्मिक परिणति का कितना ही अभास मिल जाता है और यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस कुटुम्ब में मंदिर-निर्माण आदि का कार्य परम्परागत था.

प्रस्तुत मदनसागरपुर का नाम आहार क्यों और कैसे पड़ा, यह विचारणीय है. अहार के उक्त मूर्ति लेखों में पाणा साह का कोई उल्लेख नहीं है. फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मन्दिरादि का निर्माण उनके द्वारा हुआ है. और मुनि को आहार देने से इसका नाम 'अहार' हुआ है.

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों का अन्वेषण करना जरूरी है जिससे तथ्य प्रकाश में आ सकें. इस तरह मदनेश सागरपुर और अहार जैन संस्कृति के केन्द्र रहे हैं. बाणपुर आहार क्षेत्र से ३-४ मील की दूरी पर अवस्थित है. यह भी एक प्राचीन स्थान है. जतारा ग्राम भी १२-१३वीं सदी के गौरवसे उद्दीपित है, वहाँ भी जैनधर्म की विशेष प्रतिष्ठा रही है.

१. देखो अनेकान्त वर्ष ६ किरण १० तथा वर्ष १० किरण १, २, ३, आदि में प्रकाशित अहार के लेख.

२. गृहपतिवंशसरोरुह-सहस्ररश्मिः सहस्रकूट यः ।
बाणपुरे व्याधितासात श्रीमानिह देवपाल इति ॥



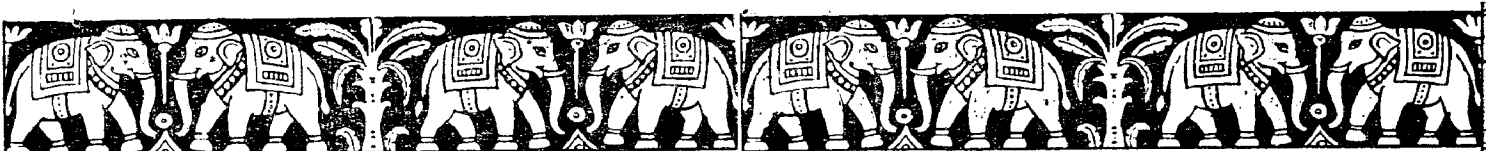
ग्वालियर के किले का इतिहास—जैन साहित्य में वर्तमान ग्वालियर का उल्लेख गोपायलु, गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल और गोपालगढ़ आदि नामों से किया गया है. ग्वालियर की इस प्रसिद्धि का कारण जहाँ उसका पुरातन दुर्ग (किला) है. वहाँ भारतीय (हिन्दू, बौद्ध और जैनियों के) पुरातत्त्व की प्राचीन एवं विपुल सामग्री की उपलब्धि भी है. भारतीय इतिहास में ग्वालियर का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है. वहाँ पर प्राचीन अवशेषों की कमी नहीं है. उसके प्रसिद्ध सूबों और किलों में इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है. ग्वालियर का यह किला पहाड़ की एक चट्टान पर स्थित है. यह पहाड़ डेढ़ मील लम्बा और ३०० गज चौड़ा है. इसके ऊपर बलुआ पत्थर की चट्टानें हैं, उनकी नुकीली चोटियाँ निकली हुई हैं, जिनसे किले की प्राकृतिक दीवार बन गई है. कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नाम के राजा ने बनवाया था. वहाँ 'ग्वालिय' नाम का एक साधु रहता था, जिसने राजा सूरजसेन के कुष्ठ रोग को दूर किया था. अतः उसकी स्मृति में ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है. पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व विक्रम की छठी शताब्दी में था, क्योंकि ग्वालियर की पहाड़ी पर स्थित 'मात्रचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख में उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है. दूसरे, किले में स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० सं० ६३२-३३ के दो शिलावाक्यों में भी उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है. हाँ, शिलालेखों से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिर भोज ने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नौज में शामिल कर लिया था और उसे विक्रम की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कच्छपघट या कछवाहा वंश के वज्रदामन् नाम के राजा ने, जिसका राज्य शासन १००७ से १०३७ तक रहा है और जो जैनधर्म का श्रद्धालु था, उसने सं० १०३४ में एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा भी करवाई थी. उस मूर्ति की पीठ पर जो लेख^१ अंकित है उससे उसकी जैनधर्म में आस्था होना प्रमाणित है. इस वंश के अन्य राजाओं ने जैन धर्मके संरक्षण, प्रचार एवं प्रसार करने में क्या कुछ सहयोग दिया, यह बात अवश्य विचारणीय है और अन्वेषणीय है. कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा से ग्वालियर को जीत कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था. इस वंश के मंगलराज, कीर्तिराज, भुवनपाल, देवपाल, पद्मपाल, सूर्यपाल, महीपाल, भुवनपाल और मधुसूदनादि अन्य राजाओं ने ग्वालियर पर लगभग दो-सौ वर्ष तक अपना शासन किया है, किन्तु बाद में पुनः प्रतिहार वंश की द्वितीय शाखा के राजाओं का उस पर अधिकार हो गया था. परन्तु वि० संवत् १२४६ में दिल्ली के शासक अल्तमस ने ग्वालियर पर घेरा डाल कर दुर्ग का विनाश किया. उस समय राजपूतों ने अपने शौर्य का परिचय दिया परन्तु मुट्ठी भर राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते ? आखिर राजपूतों ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध में मर जाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियों ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया. वे अग्नि की विशाल ज्वाला में भस्म हो गईं और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए. किले पर अल्तमस का अधिकार हो गया.

सन् १३६८ (वि० सं० १४५५) में तैमूरलंग ने भारत पर जब आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवंशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वंश के आधीन सन् १५३६ (वि० संवत् १५६३) तक रहा.

इस क्षत्रिय वंश के अनेक राजाओं ने (सन् १३६८ से १५३६ तक) ग्वालियर पर शासन किया है. उनके नाम वीरसिंह उद्धरणदेव, विक्रमदेव (वीरमदेव), गणपतिदेव, डूंगरसिंह, कीर्तिसिंह, कल्याणमल मानसिंह, विक्रमशाह, रामसाह, शालिवाहन और इनके दो पुत्र (श्यामसाह और मित्रसेन^२) हैं. लगभग दो सौ वर्ष के इस राज्यकाल में जैनधर्म को फलने, फूलनेका अच्छा अवसर मिला है. इन सभी राजाओंकी सहानुभूति जैनधर्म, जैनसाधुओं और जैनाचार पर रही है

१. संवत् १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वरुणास वदि पात्रमि. देखो, जनरल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल पृ० ४१०-५११.

२. यह मित्रसेन शाह जलालुद्दीन के समकालीन थे. इनका वि० सं० १६८८ का एक शिलालेख बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जनरल मा० ए० पृ० ६६५ में रोहतास दुर्ग के कोथैटिय फाटक के ऊपर की परिया पर तोमर मित्रसेन का शिलालेख जिसे कृष्णदेव के पुत्र शिवदेव ने संकलित किया था.



राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह की आस्था जैनधर्म पर पूर्ण रूप से रही है। तत्कालीन विद्वान् भट्टारकों का प्रभाव इन पर अंकित रहा है। यद्यपि तोमर वंश के पूर्व भी कछवाह और प्रतिहार वंश के राजाओं के राज्यकाल में भी ग्वालियर और पार्श्ववर्ती इलाकों में जैन धर्म का सूर्य चमक रहा था। परन्तु तोमर वंश के समय धर्म की विशेष अभिवृद्धि हुई। राजा विक्रमसिंह या वीरमदेव के समय जैसवाल वंशी सेठ कुशराज उनके मंत्री थे, जो जैन धर्म के अनुयायी और श्रावक के ब्रतों का अनुष्ठान करते थे। इनकी प्रेरणा और भट्टारक गुणकीर्ति के आदेश से पद्मनाभ कायस्थ ने, जो जैन धर्म पर श्रद्धा रखता था, यशोधरचरित की रचना की थी।^१

ग्वालियर और उसके आस-पास के जैन पुरातत्व और विद्वान् भट्टारकों तथा कवियों की ग्रन्थरचनाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट पता चलता है कि वहाँ जैनधर्म उक्त समय में खूब पल्लवित रहा। ग्वालियर उस समय उसका केन्द्र-स्थल बना हुआ था। वहाँ ३६ जातियों का निवास था पर परस्पर में विरोध नहीं था। जैन जनता अपनी धार्मिक परिणति, उदारता, कर्तव्यपरायणता, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और दानधर्मादि कार्यों में स्रोत्साह भाग लेती थी। उसी का प्रभाव था कि जैन धर्म और उसकी अनुयायी जनता पर सबका वात्सल्य बना हुआ था। उस समय अनेक जैन राजकीय उच्चपदों पर सेवाकार्य करते थे। जो राज्य के संरक्षण पर सदा दृष्टि रखते थे। वर्तमान में भी जैनियों की वहाँ अच्छी संख्या है।

खास कर राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह के शासनकाल में (वि० सं० १४८१ से सं० १५३६ तक) ३३ वर्ष पर्यन्त किले में जैन मूर्तियों की खुदाई का कार्य चला है। पिता और पुत्र दोनों ने ही बड़ी आस्था से उसमें सहयोग दिया था। अनेक प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न किये थे। दोनों के राज्यकाल में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ ग्वालियर में अत्यधिक पाई जाती हैं, जिनमें सं० १४६७ से १५२५ तक के लेख भी अंकित मिलते हैं। ग्रन्थ रचना भी उस समय अधिक हुई है। देवभक्ति के साथ श्रुतिभक्ति का पर्याप्त प्रचार रहा है। वहाँ के एक सेठ पद्मसिंह ने जहाँ अनेक जिनालयों, मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न कराया था, वह जिनभक्ति से प्रेरित होकर एक लक्ष ग्रन्थ लिखवाकर तत्कालीन जैन साधुओं और जैन मन्दिरों के शास्त्रभण्डारों को प्रदान किये थे। ऐसा आदिपुराण की सं० १५२१ की एक लिपिप्रशस्ति से जाना जाता है। इन सब कार्यों से उस समय की धार्मिक जनता के आचार-विचारों का और सामाजिक प्रवृत्तियों का सहज ही परिज्ञान हो जाता है। उस समय के कवि रङ्ग ने अपने पार्श्वपुराण की आद्यन्त प्रशस्ति में उस समय के जैनियों की सामाजिक और धार्मिक परिणति का सुन्दर चित्रण किया है।

सन् १५३६ के बाद दुर्ग पर इब्राहीम लोदी का अधिकार हो गया। मुसलमानों ने अपने शासनकाल में उक्त किले को कँदखाना ही बना कर रक्खा। पश्चात् दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया। जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया, तब उसने उरवाही द्वार के दोनों ओर चट्टानों पर उत्कीर्ण की हुई उन नग्न दिगम्बर जैन मूर्तियों के विनाश करने की आज्ञा दे दी।^२ यह उसका कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं।

सन् १८११ में दुर्ग पर मराठों का अधिकार हो गया, तब से उन्हीं का शासन रहा और अब स्वतंत्र भारत में मध्यप्रदेश का शासन चल रहा है।

जैन मन्दिर और मूर्तियाँ :—किले में कई जगह जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। किला कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस किले में से शहर के लिये एक सड़क जाती है। इस सड़क के किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानों पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियाँ अंकित हैं। ये सब मूर्तियाँ पाषाणों की कर्कश चट्टानों को खोद कर बनाई गई हैं। किले में हाथी दरवाजा और सास-बहू के मन्दिरों के मध्य में एक जैन मन्दिर है जिसे मुगलशासनकाल में एक मस्जिद के रूप में बदल दिया गया था। खुदाई करने पर नीचे एक कमरा मिला है जिसमें कई नग्न जैन मूर्तियाँ हैं और एक लेख भी सन् ११०८

१. देखो, 'यशोधरचरित और पद्मनाभ कायस्थ' नामक लेख-ग्रनेकान्त वर्ष १०.

२. देखो, बाबर का आत्मचरित.



(वि० सं० ११६५) का है। ये मूर्तियाँ कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनों प्रकार की हैं। उत्तर की वेदी में सात फण सहित भगवान् श्रीपार्श्वनाथ की सुन्दर पद्मासन मूर्ति है। दक्षिण की भीत पर भी पांच वेदियाँ हैं जिनमें से दो के स्थान रिक्त हैं। जान पड़ता है कि उनकी मूर्तियाँ विनष्ट कर दी गई हैं। उत्तर की वेदी में दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तियाँ अभी भी मौजूद हैं। और मध्य में ६ फुट ८ इंच लम्बा आसन एक जैन मूर्ति का है। दक्षिणी वेदी पर भी दो पद्मासन नग्न मूर्तियाँ विराजमान हैं।

दुर्ग की उर्वाही द्वार की मूर्तियों में भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है। उसके पैरों की लम्बाई नौ फुट है और इस तरह पैरों से तीन चार गुणी ऊंची है। मूर्ति की कुल ऊंचाई ५७ फीट से कम नहीं है। श्वेताम्बरीय विद्वान् मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजय ने अपनी-अपनी तीर्थमाला में इस मूर्ति का प्रमाण बावन गज बतलाया है,^१ जो किसी तरह भी सम्भव नहीं है। और बाबर ने अपने आत्मचरित में इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊंचा बतलाया है, वह भी ठीक नहीं है। कुछ खण्डित मूर्तियों की बाद में सरकार की ओर से मरम्मत करा दी गई है, फिर भी उनमें की अधिकांश मूर्तियाँ अखण्डित मौजूद हैं।

बाबा बावड़ी और जैन मूर्तियाँ :—ग्वालियर से लश्कर जाने समय बीच में एक मील के फासले पर 'बाबा बावड़ी' के नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है। सड़क से करीब डेढ़ फर्लांग चलने और कुछ ऊंचाई चढ़ने पर किले के नीचे पहाड़ की विशाल चट्टानों को काट कर बहुत सी पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। ये मूर्तियाँ स्थापत्य कला की दृष्टि से अनमोल हैं। इतनी बड़ी पद्मासन मूर्तियाँ मेरे देखने में अन्यत्र नहीं आईं। बावड़ी के बगल में दाहिनी ओर एक विशाल खड्गासन मूर्ति है। उसके नीचे एक विशाल शिलालेख भी लगा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वि० संवत् १५२५ में तोमर वंशीय राजा डूंगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में हुई है।

खेद है कि इन सभी मूर्तियों के मुख प्रायः खंडित हैं। यह मुस्लिमयुग के धार्मिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ता है। इन मूर्तियों की केवल मुखाकृति को ही नहीं बिगाड़ा गया किन्तु किसी किसी मूर्ति के हाथ-पैर भी खण्डित कर दिये गये हैं। इतना ही नहीं किन्तु विद्वेषियों ने कितनी ही मूर्तियों को गारा-मिट्टी से भी चिनवा दिया था और सामने की विशाल मूर्ति को गारा मिट्टी से छाप कर उसे एक कन्न का रूप भी दे दिया था। परन्तु सितम्बर सन् १८४७ के दंगे के समय उनसे उक्त स्थान की प्राप्ति हुई है।

संग्रहालय :—ग्वालियर के किले में एक अच्छा संग्रहालय है जिसमें हिन्दू, जैन और बौद्धों के प्राचीन अवशेषों, मूर्तियों, शिलालेखों और सिक्कों आदि का संग्रह किया गया है। इसमें जैनियों की गुप्तकालीन खड्गासन मूर्ति भी रक्खी हुई है, जो कलात्मक है और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसी में सं० १३१८ का भीमपुर का महत्त्वपूर्ण शिलालेख भी है।

ग्वालियर के आसपास उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

दूब कुण्ड के शिलालेख :—दूब कुण्ड का दूसरा नाम 'चडोभ' है। यह स्थान किसी समय जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यहाँ कच्छपघट (कच्छवाहा) वंश के शासकों के समय में भी जैन मंदिर मौजूद थे, और नूतन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेख में उल्लिखित लाड-बागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अंबरसेन और शांतिषेण इन पांच दिगम्बर जैनाचार्यों का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एवं शंतिषेण के शिष्य विजयकीर्ति के पूर्ववर्ती हैं। यदि इन पांचों आचार्यों का समय १२५ वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है, तो उसे ११४५ में से घटाने पर देवसेन का समय १०२० के लगभग आ जाता है। ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे, और लाड-बागडगण के उन्नत रोहणाद्रि थे, विशुद्ध रत्नत्रय के धारक थे और समस्त आचार्य इन की आज्ञा को नत-

१. बावन गज प्रतिमा दीसती, गढ ग्वालेरि सदा सोभती ॥३॥ —शीलविजय तीर्थमाला पृ० १११

गढ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा बंदू ऋषभ रंगरोली जी ॥ —सौभाग्यविजय तीर्थमाला १४-२-पृ० ६८.



मस्तक हो हृदय में धारण करते थे.^१ उक्त दूबकुण्ड में एक जैन स्तूप पर सं० ११५२ का एक और शिलालेख अंकित है जिसमें सं० ११५२ की वैशाख सुदी ५ को काण्ठासंघ के महान् आचार्य देवसेन की पादुका-युगल उत्कीर्ण है.^२ यह शिलालेख तीन पंक्तियों में विभक्त है। इसी स्तूप के नीचे एक भग्न मूर्ति उत्कीर्ण है जिस पर 'श्रीदेव' लिखा है, जो अधूरा नाम मालूम होता है। पूरा नाम श्री देवसेन रहा होगा। ग्वालियर में भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है और उसमें देवसेन विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि अनेक भट्टारक हुए हैं। इनमें देवसेन, यशः कीर्ति, गुणभद्र ने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रंथों की रचना की है।

दूबकुण्ड का यह शिलालेख^३ बड़े महत्त्व का है। कच्छपघट (कच्छवाहा) वंश के राजा विजयपाल के पुत्र विक्रमसिंह के राज्य में यह लेख लिखा गया है। यह विजयपाल वही हैं जिनका वर्णन बयाना के वि० सं० ११०० के शिलालेख में किया गया है। बयाना दूब कुण्ड से ८० मील उत्तर में है। इस लेख में जैन व्यापारी गिषि और दाहड़ की वंशावली दी है। जायसवंश में सूर्य के समान प्रसिद्ध धनिक सेठ जासुक था, जो सम्यग्दृष्टि था, जिनेन्द्रपूजक था, चार प्रकार के पात्रों को श्रद्धापूर्वक दान देता था। उसका पुत्र जयदेव था, वह भी जिनेन्द्रभक्त और निर्मल चरित्र का धारक था। उसकी यशोमती नामक पत्नी से ऋषि और दाहड़ दो पुत्र हुए थे। ये दोनों ही धनोपार्जन में कुशल थे। इनमें ज्येष्ठ पुत्र ऋषि को राजा विक्रम ने श्रेष्ठी पद प्रदान किया था। और दाहड़ ने उच्च शिखर वाला यह सुन्दर मन्दिर बनवाया था। जिस में कूकेक, सूर्यट, देवधर और महीचन्द्र आदि विवेकी चतुर श्रावकों ने सहयोग दिया था। और राजा विक्रमसिंह ने जिनमन्दिर के संरक्षण पूजन और जीर्णोद्धार के लिये दान दिया था।^४ यह लेख जैसवाल जाति के लिये महत्त्वपूर्ण है।

ग्वालियर स्टेट के ऐसे बहुत से स्थान हैं जिनमें जैनियों और बौद्धों तथा हिन्दुओं की पुरातन सामग्री पाई जाती है। भेलसा (विदिशा) वेसनगर, उदयगिरि, बडोह, बरो (बडनगर) मंदसौर, नरवर, ग्यारसपुर सुहानियाँ, गूडर, भीमपुर, पद्मावती, जोरा, चंदेरी, मुरार आदि अनेक स्थान हैं। इनमें से यहाँ उदयगिरि, नरवर और सुहानियाँ के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

उदयगिरि :—भेलसा जिले में उदयगिरि नामका एक प्राचीन स्थान है। भेलसा से ४ मील दूर पहाड़ी में कटे हुए मंदिर हैं। पहाड़ी पौन मील के करीब लम्बी और ३०० फुट की ऊंचाई को लिये हुए है। यहाँ गुफाएँ हैं, जिनमें प्रथम और २० वें नम्बर की गुफा जैनियों की है। २० वीं गुफा जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की है। उसमें सन् ४२५-४२६ का गुप्तकालीन एक अभिलेख है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है :

“सिद्धों को नमस्कार। श्रीसंयुक्त गुणसमुद्र गुप्तान्वय के सम्राट् कुमारगुप्त के वर्द्धमानराज्य शासन के १०६ वें वर्ष और कार्तिक महीने की कृष्ण पंचमी के दिन गुहाद्वार में विस्तृत सर्पफण से युक्त शत्रुओं को जीतने वाले जिनश्रेष्ठ पार्श्वनाथ जिन की मूर्ति शम-दमवान शंकर ने बनवाई। जो आचार्य भद्रान्वय के भूषण और आर्य कुलोत्पन्न आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य तथा दूसरों द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपति भट संघिल और पद्मावती के पुत्र शंकर इस नाम से लोक में विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्ग में स्थित था और वह उत्तर कुरुवों के सदृश उत्तर प्रान्त के श्रेष्ठ देश में उत्पन्न हुआ था, उसके इस पावन कार्य में जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्मरूपी शत्रु-समूह के क्षय के लिये हो।” वह मूल लेख इस प्रकार है :

१. नमः सिद्धेभ्यः (॥) श्रीसंयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानाम्

१. आसीद्विशुद्धतरबोधचरित्रदृष्टि : निःशेषस्मरितमस्तकधारिताहः ।
श्रीलाटवागड गणोन्नतरोहणाद्रि-माण्डव्यभूतचरितो गुरुदेवसेनः ॥
२. सं० ११५२ वैशाखसुदि पञ्चम्यां श्री काण्ठा संघ महाचार्यवर्य श्री देवसेन पादुकायुगलम् .
३. See Archaeological Survey of India, V. L. 2, P. 102.
४. एषियाफिका इंदिका जिल्द २ पृष्ठ २३२-४०.



२. राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षड्भियुतैर्वर्षशतेथ मासे (११) सुकार्तिके बहुल दिनेथ पंचमे
३. गुहामुखे स्फटविकटोत्कटाभिमां, जितद्विषो जिनवर पार्श्वसंज्ञिकां, जिनाकृति शम-दमवान
४. चीकरत् (११) आचार्यभद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्थ्यकुलोद्वृतस्य आचार्य गोश
५. र्म्म मुनेस्सुतास्तु पद्मवतावश्वपते र्भटस्य (११) परैरजेयस्य रिपुघ्न मानिनस्स संधिल
६. स्येतित्यभिविश्रुतो भुवि स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमार्गमस्थितः (११)
७. स उत्तराणां सदृशे कुरूणां उदग्दिशा देशवरे प्रसूतः
८. क्षयाय कर्म्मरिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तदपाससज्जं (११) —प्लीट, गुप्त अभिलेख पृ० २५८.

इस लेख में उल्लिखित आचार्य भद्र और उनके अन्वय में प्रसिद्ध मुनि गोशर्म, कहां के निवासी थे और उनकी गुरु-परम्परा क्या है ? यह कुछ मालूम नहीं हो सका।

नरवर :—एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है। नरवर को 'नलगिरि और नलपुर' भी कहा जाता था।^१ इसका इतिवृत्त ग्वालियर दुर्ग के साथ सम्बन्धित रहा है। विक्रम की १० वीं शताब्दी के अन्त में दोनों दुर्ग कछवाहा राजपूतों के अधिकार में चले गए थे। विक्रम ११८६ में उस पर प्रतिहारों का अधिकार हो गया था। लगभग एक शताब्दी शासन करने के बाद सन् १२३२ में अलतमश ने ग्वालियर को जीत लिया, तब प्रतिहारों ने नरवर के दुर्ग में शरण ली। विक्रम की १३ वीं शताब्दी के अन्त में दुर्ग को चाहडदेव ने प्रतिहारों से जीत लिया, जो नरवर के राजपूत कहलाते थे। भीमपुर के वि० सं० १३१८ के अभिलेख में इस वंश के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ की हैं। और उसका यज्वपाल नाम सार्थक बतलाया है। तथा कचेरी के सं० १३३६ के शिलालेख में जयपाल से उद्भूत होने से इस वंश को 'जज्जयेल' लिखा है।

नरवर और उसके आस-पास के उपलब्ध शिलालेखों और सिक्कों से ज्ञात होता है कि चाहड देव के वंश में चार राजा हुए हैं। चाहडदेव, नरवर्म देव, आसल्लदेव, गोपालदेव और गणपतिदेव। चाहडदेव ने नलगिरि और अन्य बड़े पुर शत्रुओं से जीत लिये थे। नरवर में इसके जो सिक्के मिले हैं उनमें सं० १३०३ से १३११ तक की तिथि मिलती है। चाहड के नाम का एक लेख सं० १३०० का उदयेश्वर मन्दिर की पूर्वी महराव पर मिलता है, उसमें उसके दान का उल्लेख है।

नरवर्म देव भी बड़ा प्रतापी और राजनीतिज्ञ राजा था, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है :

‘तस्माद्नेकविधविक्रमलब्धकीर्तिः पुण्यश्रुतिः समभवन्नरवर्मदेवः’

वि० सं० १३३८ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि नरवर्म देव ने धार (धारा नगरी) के राजा से चौथ वसूल की थी। यद्यपि इस वंश की परमारों से अनेक छेड़छाड़ होती रहती थी, किन्तु उन्ममें नरवर्मदेव ने सफलता प्राप्त की थी। नरवर्म देव के बाद इसका पुत्र आसल्लदेव गद्दी पर बैठा। इसके राज्यसमय के दो शिलालेख वि० सं० १३१८ और १३२७ के मिलते हैं। आसल्लदेव के समय उसके सामन्त जैत्रसिंह ने भीमपुर में एक जिनमंदिर का निर्माण कराया था। इस मंदिर की प्रतिष्ठा संवत् १३१८ में नागदेव द्वारा सम्पन्न हुई थी। इसके समय में भी जैन धर्म को पनपने में अच्छा सहयोग मिला था। जैत्रसिंह जैनधर्म का संपालक और श्रावक के व्रतों का अनुष्ठाता था। आसल्लदेवका पुत्र गोपालदेव था। इसके राज्य का प्रारम्भ सं० १३३६ के बाद माना जाता है। इसका चंदेल वंशी राजा वीरवर्मन के साथ युद्ध हुआ था, जिसमें इसके अनेक वीर योद्धा मारे गये थे।

गणपति देव के राज्य का उल्लेख सं० १३५० में मिलता है। यह सं० १३४८ के बाद ही किसी समय राज्याधिकारी

१. अस्य प्रभापकनकैरमलैर्यशोभि—मुक्ताफलैरखिलभूषणविभ्रमाया ।
पादोनलक्षविषयक्षितिपद्मलाक्ष्या, मास्ते पुरं नलपुरं तिलकायमानम् ॥
नलगिरि का उल्लेख कचेरी वाले अभिलेख में मिलता है। यथा —
‘तत्राभवन्नपतिरुग्रतरप्रतापः श्रीचाहडस्त्रिभुवनप्रथमानकीर्तिः ।
दोदण्डचंडिमभरेण पुरः परेभ्यो येनाहता नलगिरिप्रमुखा गरिष्ठाः ॥’

—भीमपुर शिलालेख १४.

—देखो, कचेरी अभिलेख सं० १३३६.



हुआ होगा. सं० १३५५ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने चन्देरी के दुर्ग पर विजय प्राप्त की थी, क्योंकि सं० १३५६-५७ के सतीस्तंभों में इसके राज्य का उल्लेख है. जान पड़ता है कि मुसलमानों की विजयवाहिनी से चाहडदेव का वंश समाप्त हो गया.

जैनत्व की दृष्टि से नरवर के किले में अनेक जैन मूर्तियाँ खंडित-अखंडित अवस्था में प्राप्त हैं. किले में इस समय ४ मूर्तियाँ अखंडित हैं जिनपर १२१३ से १३४८ तक के लेख पाये जाते हैं.

१. 'सं० १२१३ अषाढ़ सुदि ६. २. सं० १३१६ ज्येष्ठ वदी ५ सोमे. ३. सं० १३४० खैशाख वदी ७ सोमे. ४. सं० १३४८ वैशाखसुदी १५ शनौ'.

ये सब मूर्तियाँ सफेद संगमरमर पाषाण की हैं. खंडित मूर्तियों की संख्या अधिक पाई जाती है. नगर में भी अच्छा मन्दिर है और जैनियों की बस्ती भी है. नगर के आस-पास के ग्रामों आदि में भी जैन अवशेष पाये जाते हैं. जिससे वहाँ जैनियों के अतीत गौरव का पता चलता है.

नरवर से ३ मील की दूरी 'भीमपुर' नामका एक ग्राम है. जहाँ जज्जयेल वंशी राजा आसलदेव के एक जैन सामन्त जैत्रसिंह रहते थे. उन्होंने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया था. और उस पर २३ पंक्त्यात्मक करीब ६०-७० इलोंके परिमाण को लिये हुए विशाल शिलालेख लगवाया था, जो अब ग्वालियर पुरा-तत्त्व विभाग के संग्रहालय में मौजूद है. इस लेख में उक्त वंश के राजाओं का उल्लेख है, जैत्रसिंह की धार्मिक परिणति का भी वर्णन है, और नागदेव द्वारा उसकी प्रतिष्ठा के सम्पन्न होने का उल्लेख है. सं० १३१८ का यह शिलालेख अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ. यह लेख जैनियों के लिये महत्त्वपूर्ण है. पर ऐसे कार्यों में जैन समाज का योगदान नगण्य है.

सुहानियां—यह स्थान भी पुरातन काल में जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है और वह ग्वालियर से उत्तर की ओर २० मील, तथा कटवर से १४ मील उत्तर-पूर्व में अहसन नदी के उत्तरीय तट पर स्थित है. कहा जाता है कि यह नगर पहले खूब समृद्ध था और बारह कोश जितने विस्तृत मैदान में आबाद था. इसके चार फाटक थे, जिनके चिह्न आज भी उपलब्ध होते हैं. सुना जाता है कि इस नगर को राजा सूरसेन के पूर्वजों ने बसाया था. कनिंघम साहब को यहाँ वि० सं० १०१३, १०३४ और १४६७ के मूर्तिलेख प्राप्त हुए थे.

इस लेख में मध्यभारत के कुछ स्थानों के जैन पुरातत्त्व का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है. उज्जैनी, धारा नगरी और इनके मध्यवर्ती भूभाग अर्थात् समूचे मालव प्रदेश का जो जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है, परिचय देने में एक बड़ा ग्रन्थ बन जायगा.

